ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 **PP. No.- 191-194**
I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.-II, Issues-36, YEAR-April-June. 2025

डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मणिकर्णिका' में निहित दलित अनुभव

1. गौतम कुमार
2. डॉ0 राकेश रंजन

1.शोध अध्येता, 2.सहायक प्राध्यापक, विश्वविद्यालय हिंदी विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार) भारत

Received-21.05.2025, Revised-27.05.2025, Accepted-31.05.2025 **E-mail : kr3gautam@gmail.com**

सारांशः डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा दो भागों में प्रकाशित है। एक भाग 'मुर्दहिया' तथा दूसरा 'मणिकर्णिका' नाम से चर्चित है। मणिकर्णिका तुलसीराम का शैक्षणिक जीवन का साक्षात् अनुभव है, जो उन्होंने अपने पढ़ाई के दौरान वाराणसी से लेकर जेएनयू, दिल्ली तक का अनुभव किया है। वे बौद्ध दर्शन, मार्क्सवादी विचार एवं अम्बेदकरवादी विचार के गहन अध्येता थे। साथ ही साथ दलित जाति में जन्म लेने के कारण भारतीय समाज में जातीय आधार पर भेदभाव को बड़े सिद्धत के साथ महसूस किया था। अपने व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों को मणिकर्णिका में स्थान देकर उन्होंने सम्पूर्ण दलित समाज के दर्द एवं वेदना को शब्द देने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। मणिकर्णिका न सिर्फ डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा है बल्कि सम्पूर्ण दलित समाज की वेदना एवं पीड़ा की महागाथा है। इस शोध लेख में मणिकर्णिका में निहित दलित अनुभव को डॉ. तुलसीराम के हवाले से विमर्श करने का प्रयास किया गया है।

कुंजीभूत शब्द– मणिकर्णिका, दलित अनुभव, आत्मकथा, मुर्दहिया, मणिकर्णिका, बौद्ध दर्शन, मार्क्सवादी विचार, अम्बेदकरवादी

परिचय– हिन्दी दलित साहित्य के परिदृश्य में डॉ. तुलसीराम का नाम अनेक कारणों से विशिष्ट है। उनकी आत्मकथा के दो खंडों 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' उनकी कीर्ति के मुख्य कारण हैं, अपितु साहित्य की अनेक विधाओं में लेखनी चलाकर उन्होंने दलित साहित्य को समृद्ध किया है। प्रस्तुत शोध–लेख में हम 'मणिकर्णिका' में निहित दलित चेतना और दलित अनुभवों को विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे।

मुख्य भाग– डॉ. तुलसीराम ने 'मणिकर्णिका' में 'मुर्दहिया' के आगे के अपने जीवन–संघर्ष और वैचारिक जीवन–यात्रा का वर्णन किया है। अपने गृह जनपद आजमगढ़ से निकल कर लेखक ने करीब 10 साल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बिताए। काशी से जुड़े अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करते हुए वे लिखते हैं ''गंगा के घाटों और बनारस के मंदिरों से जो यात्रा शुरू हुई थी, वह अंततोगत्वा कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में समाप्त हो गई। मार्क्सवाद ने मुझे विश्वदृष्टि प्रदान की, जिसके चलते मेरा व्यक्तिगत दुःख दुनिया के दुःख में मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठा। मुर्दहिया में जो विचार सुप्त अवस्था में थे, वे मणिकर्णिका में विकसित हुए।''[1]

मणिकर्णिका में लेखक ने अपने जीवनानुभवों का वर्णन करते हुए उस खास समय को भी विश्लेषित किया है, जिसके भीतर अनेक प्रवृत्तियों का सघन संघर्ष चल रहा था। बनारस मानो 'मणिकर्णिका' के पृष्ठों पर जीवंत हो उठा है। इस स्मृति आख्यान में अनेक वैचारिक संघर्षों के साथ कोलकाता और वहाँ का बौद्धिक वर्ग भी उपस्थित है। 'मणिकर्णिका' डॉ. तुलसीराम के जीवन–संघर्ष की ऐसी महागाथा है जिसमें भारतीय समाज की अनेक विद्रूपताएँ स्वतः उद्घाटित होती जाती हैं।

'मणिकर्णिका' का प्रकाशन 2014 में हुआ। प्रकाशित होते ही इस पुस्तक ने हिन्दी साहित्य और समाज के जीवन में हलचल मचा दी तथा गंभीरता के साथ कुछ अनिवार्य प्रश्न खड़े किये। गांव से निकलकर लेखक जब बनारस आता है तो उसे कैसी दुस्सह, निर्दयी और दारुण परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, उनका अत्यंत सहज उल्लेख, गहरे आलोचकीय विवेक और धैर्य के साथ इस पुस्तक में हुआ है। पहले खंड 'मुर्दहिया' में लेखक ने आजमगढ़ के एक गांव में व्यतीत की गई अपनी बाल्यावस्था और किशोरावस्था के करीब 17 वर्षों का वर्णन किया है। इस दूसरे खंड में उसके आगे के 10 वर्षों का वर्णन है, जिसका केन्द्र बनारस है खासतौर से बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी। लेखक ने भूमिका में लिखा है कि बनारस की मणिककर्णिका किसी के भी अस्तित्व को हमेशा के लिए मिटा देती है, किन्तु मेरे साथ एकदम उल्टा हुआ। यह सच है कि बनारस में पढ़ाई के दौरान लेखक को भयावह परिस्थितियों से गुजरना पड़ा लेकिन यह भी सच है कि यही उसे नया जीवन मिला, जीवन को नयी राह मिली और नयी पहचान भी। यह जरूर है कि लेखक अपनी जाति के कारण यहाँ भी अनेकशः प्रताड़ित होता रहा। इसीलिए उसने पुस्तक के पहले अध्याय 'मणिकर्णिका' में लिखा है ''मणिकर्णिका मेरे लिए एक नयी मुर्दहिया थी।''[2]

लेखक ने मुर्दहिया को निम्नलिखित अध्यायों में विभाजित किया हैः

1. मणिकर्णिका
2. गोरिया हबड़ा पुलवा पर ठड़ी
3. बी. एच. यू. माई की गोद में
4. मार्क्सवादी चमत्कार
5. नक्सलबाड़ी की बसंती दहाड़
6. वैचारिक द्वंद्व
7. माओवाद तथा सोवियत संघ
8. जे. पी. आंदोलन तथा फासीवाद
9. विरोधी मुहिम
10. कम्युनिस्ट पार्टी तथा दलित प्रश्न
11. प्रीति करै ना कोय
12. उत्पलवर्णा टामुन सबीहा

'मणिकर्णिका' का पहला अध्याय इसी नाम से है, जिसमें लेखक ने आजमगढ़ से चलकर बनारस पहुँचने की अपनी यात्रा का उल्लेख किया है। वहाँ कुछ दिन ठहरकर वे अपनी पढ़ाई के लिए आर्थिक व्यवस्था करने बंगाल चले जाते हैं। बनारस पहुँचने के बाद उनके जो आरंभिक अनुभव हैं उनसे आत्मकथा के इस खंड का द्वार खुलता है। मुर्दहिया से मणिकर्णिका पहुँचने के वर्णन का यह आरंभिक अंश किंचित् दीर्घ होने के बावजूद उल्लेखनीय हैः ''आजमगढ़ की कचहरी से उठती बनजारे के डमरू की ध्वनि ने मुझे पौराणिक शिव के तांडव की कल्पना से सराबोर कर दिया था और जब मैं रिक्शे से रोडवेज पहुँचा तो देखा कि 'स्वर्गवास मेल' के

अनुरूपी लेखक/ संयुक्त लेखक

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.-II, Issues-36, YEAR-April-June. 2025

ऊपर एक मुर्दा बांध जा रहा था। जाहिर है उसे स्वर्ग की आकांक्षा से बनारस के मणिकर्णिका घाट पर ले जाया जाने वाला था। उन दिनों आजमगढ़ रोडवेज के ठीक बगल में दाईं तरफ पचास गज की दूरी पर एक दुकाननुमा मकान था। वहाँ हमेशा काले रंग की एक बहुत पुरानी मिनी बस खड़ी रहती थी, जिस पर बड़े–बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था ''स्वर्गवास मेल।' 'स्वर्गवास मेल' प्रतिदिन मुर्दों को लेकर बनारस स्थित गंगा के किनारे मणिकर्णिका घाट जाया करती थी, जहाँ उन्हें जलाया जाता था।

एक हिन्दू मान्यता के अनुसार जिस किसी का अंतिम संस्कार मणिकर्णिका घाट पर किया जाता है, वह सीधे स्वर्ग चला जाता है। यह भी कहा जाता है कि शिव की पत्नी पार्वती के कानों में पहनी जाने वाली मणि इसी जगह गंगा में खो गई थी, जिसके कारण इस घाट का नाम मणिकर्णिका पड़ा। इस घाट पर सदियों से जलती चिताएँ कभी नहीं बुझीं। अतः मृत्यु का कारोबार यहाँ चौबीसों घंटे चलता रहता है। सही अर्थों में मृत्यु बनारस का एक बहुत बड़ा उद्योग है। अनगिनत पंडों की जीविका मृत्यु पर आधरित रहती है। सबसे ज्यादा कमाई उस डोम परिवार की होती है, जिससे हर मुर्दा मालिक चिता सजाने के लिए लकड़ी खरीदता है। यह डोम परिवार उस पौराणिक कथा का अभिन्न अंग बन चुका है, जिसमें उसके पूर्वजों के हाथों कभी राजा हरिश्चन्द्र बिक गए थे। डोम के गुलाम के रूप में राजा हरिश्चन्द्र की नियुक्ति मुर्दाघाट की रखवाली के लिए की गई थी। एक घाट आज 'हरिश्चन्द्र घाट' के रूप में भी जाना जाता है। इसी मान्यता के कारण लोगों का विश्वास है कि जब तक उस डोम परिवार द्वारा दी गई लकड़ी से चिता नहीं सजाई जाएगी, तब तक स्वर्ग नहीं मिलेगा।

जहाँ तक 'स्वर्गवास मेल' का सवाल है, उसका रूप रंग देखते ही भय लगने लगता था। यमदूत की कल्पना अनायास ही उभर आती थी। 'स्वर्गवास मेल' में प्रायः अमीर मुर्दे ही सफर करते थे। मैं टिकट लेकर बनारस जाने वाली बस में बैठ गया। वहाँ से मुझे काम की तलाश में कलकत्ता जाना था। यह मध्य अप्रैल 1966 की बात है। थोड़ी देर बाद बस बनारस के लिए चल पड़ी। शीघ्र ही मैंने देखा कि ज्यों ही हमारी बस टौंस नदी पर बने पुल से गुजरी, 'स्वर्गवास मेल' कभी हमारे आगे तो कभी पीछे भड़भड़ करती चलती रही। करीब आधे रास्ते के बाद गोमती नदी पर बने चंदबक पुल से हम गुजरे। 'स्वर्गवास मेल' हमारे साथ थी। बनारस पहुँचने तक उससे हमारी आँख मिचौनी जारी रही। कभी–कभी तो ऐसा लगता था कि मानो हम सभी शव–यात्री ही हों। करीब तीन घंटे के सपफर के बाद जब मैं बनारस के कैंट स्टेशन के पास स्थित बस अड्डे पर पहुँचा तो देखते ही देखते मुर्दहिया के रास्ते 'स्वर्गवास मेल' मणिकर्णिका की तरपफ मुड़ गई। मणिकर्णिका की चिंताएँ मेरे मस्तिष्क में जल उठीं। जाहिर था कि मणिकर्णिका मेरे लिए एक नई मुर्दहिया थी। अतः मैंने बस अड्डे पर ही सोच लिया था कि इस बार बनारस में रहते हुए सबसे पहले मणिकर्णिका का ही दर्शन करूँगा। इसी अनुभूति के साथ मैं बस अड्डे से रिक्शे द्वारा भेलपुर थाने के पास स्थित गौरीगंज मोहल्ला पहुँचा जहाँ एक मकान में तपसीराम मेरा इंतजार कर रहे थे। उसके साथ बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के एक अन्य छात्रा मुन्नीलाल भी रह रहे थे। वे बी. ए. द्वितीय वर्ष के छात्रा थे। वे जौनपुर के रहने वाले थे तथा उनके पिताजी कलकत्ता में रेलवे में गेटमैन की नौकरी करते थे।''[3]

दलित साहित्यकारों की चेतना में गौतम बुद्ध और उनकी विचारणा मुख्य प्रकाश स्तंभ के रूप में उपस्थित है। इसके कई कारण हैं। बुद्ध ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे धर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकांडों एवं बाह्याचारों का विरोध करते हैं। सम्पूर्ण विश्व में उनकी ख्याति एक दार्शनिक और विचारक के रूप में है, आत्म–साध्ना–सिद्ध संबोधिप्राप्त एक मानवीय धर्म के प्रवर्तक के रूप में है, एक क्रांतिचेता लोकनायक के रूप में है। उन्होंने मूर्खतापूजा का विरोध किया, देवी–देवताओं को नहीं माना, जाति–प्रथा और छुआछूत के विरुद्ध घूम–घूम कर प्रचार करते रहे। उन्होंने स्वर्ग या किसी अलौकिक दुनिया में निवास करने वाले देवताओं और आत्मा–परमात्मा के संबंध को व्याख्यायित करने के झंझटों में न पड़ कर मनुष्य के दुःख की बात की। आत्मा और परमात्मा से इतर उन्होंने संसार के दुःख को सत्य माना। स्वाभाविक रूप से दलित लेखक चेतना के स्तर पर बुद्ध और उनके विचारों से जुड़े हैं। डॉ. तुलसीराम की चेतना के संबंध में भी यह बात सच है। सारनाथ की अपनी पहली यात्रा के संदर्भ में वे लिखते हैं ''बनारस प्रवास के चौथे दिन यानी अप्रैल 1966 के तीसरे सप्ताह का कोई दिन था, मैं बैनियाबाग से एक बस पकड़कर सारनाथ गया। मन में बड़ा कौतूहल मचा हुआ था कि यहीं ढाई हजार साल पहले गौतम बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया था। वहाँ पहुँचकर मैं विदेशी पर्यटकों के एक समूह के पीछे लग लिया। उनके साथ एक गाइड था। उनका पीछा करते समय मैं सारनाथ के उस प्रमुख बौद्धमठ में पहुँच गया, जिसकी दीवारों पर बुद्ध का जीवन चित्रित था। लुम्बिनी में जन्म से लेकर गृहत्याग तथा अंत में निर्वाण यानी मृत्यु तक का चित्राण था। निर्वाण की मुद्रा में बुद्ध को लेटे देखकर मैं अत्यंत भावुक हो उठा था, इसलिए रो पड़ा। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो मैं सदियों पूर्व बुद्ध के निर्वाण के समय वहाँ उपस्थित था। उनकी मृत्यु की ताजा कल्पना मेरे लिए कापफी दुःखदाई थी।''[4]

हमारे समाज में कई तरह के अंधविश्वास प्रचलित हैं। ये अंधविश्वास तब और क्रूर दिखाई पड़ते हैं जब उनका संबंध जाति से संबंध्ति भेदभाव या किसी अपशकुन की मान्यता से जुड़ जाता है। डॉ. तुलसीराम अपनी आत्मकथा में इस तरह के भेद–भावों और मान्यताओं की भी आलोचना करते हुए चलते हैं। उपर्युक्त अध्याय का ही एक प्रसंग इस प्रकार है ''म्यूजियम की पूरी परिक्रमा करने के बाद मैं कापफी थक चुका था। अतः एक चाय की तलाश करने लगा। चाय की दुकान में प्रवेश करते ही एक ऐसी घटना घटी, जिसके चलते बुद्ध के प्रथम उपदेश में वर्णित दुख की अवधारणा तुरंत साकार हो गई। हुआ यह कि एक बंगाली परिवार पहले ही से वहाँ बैठा था। मेरा पैर उस परिवार के पुरुष के पैर से थोड़ा–सा टकरा गया। वे क्रोध्ति होकर खड़े हो गए और बंगला भाषा में जोर–जोर से चिल्लाने लगे। उनकी रौद्र मुद्रा मेरे लिए थपड़ियाने जैसी थी। शुरू में मैं समझ नहीं पाया कि वे इतना क्रोधित क्यों हो गए? मैं डरा हुआ चुपचाप उनसे काफी दूर पीछे की बेंच पर बैठ गया। चाय वाले के लड़के ने चाय देने से पहले मुझे बताया कि बंगाली लोग पैर लग जाने को अपसगुन समझते हैं, इसलिए वे आपा खो बैठते हैं। मैं बड़े दुखित मन से वहाँ चाय पीकर बाहर निकला, तो देखा कि उस बंगाली परिवार की घूरती निगाहें मुझे छिन्न–भिन्न कर रही हैं। मैं सीधे बनारस के बैनियाबाग जाने वाली बस में बैठ गया। बनारस पहुँचने के बाद भी सारनाथ का दुख मेरा पीछा करता रहा।''[5]

यद्यपि डॉ. तुलसीराम की दलित चेतना की खूबी यह है कि ऐसी रूढ़ियों और अंधविश्वासों के प्रति आलोचनात्मक होने के बावजूद वह कभी असंयमित या उग्र नहीं होती। वजह यह कि उनकी चेतना विध्वंस नहीं निर्माण चाहती है। उसका उद्देश्य सिपर्फ आघात करके पुरानी मान्यताओं को तोड़ना ही नहीं है बल्कि समाज का नव–निर्माण करना भी है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म के सांस्कृतिक पक्ष को वे सकारात्मक रूप से देखते हैं। यह पक्ष उनकी चेतना में स्मृति रूप में बसा हुआ है। मणिकर्णिका में अनेक स्थलों पर वह पक्ष अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ है। इस संदर्भ में कोलकाता में मजदूरों के द्वारा किये जाने वाले कीर्तन–गानों से संबंधित यह प्रसंग उद्धत करने योग्य है, जिसमें काली और शिव का उल्लेख हुआ है ''छुट्टी के दिन ध्र्मतल्ला सबसे ज्यादा जीवंत हो उठता था।

ASVP PIF-9.805 /ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.-II, Issues-36, YEAR-April-June. 2025

मालिश करने वालों का फिल्मी अंदाज देखते ही बनता था। डमरू बजा–बजाकर कोई जादू दिखाता तो कोई उसकी ही धुन पर बंदर–बंदरियों को नचाता। सबसे ज्यादा सुरीले किन्तु तेज स्वर में 'आल्हा' सुनाई देता। आल्हा विभिन्न देवियों की वंदना से शुरू होता, जैसेः

काली ध्यावों कलकत्ते की
सारद मैहर की सरनाम
विंध्वासिनी के पद ध्यावों
ज्वालामुखी करौं परनाम।

चारखाने की लुंगी पहने लंबे बालों वाला अल्हैता अपने दाएं हाथ की तर्जनी में बांस की एक पतली खपच्ची बांधे रखता था, जिसके माध्यम से उसकी ढोल के स्वर बड़े मनमोहक लगने लगते थे और जब वह युद्धोन्मादी ध्वनि पर सिर के बालों को लहराते हुए गाता :

खट खट, खट खट तेगा बोले
रमणा छपक छपक तलवार।

तो ऐसे लगता था कि मानो धर्मतल्ला का मैदान कटे नरमुंडों से पट गया हो। अपनी इस कला से वह खूब पैसा कमाता था। धर्मतल्ला के एक कोने में यू. पी. बिहार के मजदूरों की बिरहा मंडली भी ढोल करताल के साथ मौजूद रहती। बचपन में गांव की शादियों के अवसर पर गाई जाने वाली बिरहा की दो लाइनें धर्मतल्ला में पुरानी यादों को ताजा कर देती थीं। वे लाइनें थीं :

शिव के परीछैं मैना अपनी बखरियाँ
भूत पिशाच अइलै साथे ससुररियाँ...

बिरहा मंडली का एक आधुनिक किस्म का गीत काफी लोकप्रिय हो गया था, जिसे बंगाली युवक बहुत पसंद करते थे, वह था :

एक ठे नई गाड़ी चलल बा छपरा से
छपरा क चलल गाड़ी हबड़ा में रूकल बा
पसींजर उतरै घबड़ा के, एक ठे नई गाड़ी....।''[6]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि दूसरे दलित लेखकों की तरह डॉ. तुलसीराम पूरी हिन्दू परम्परा को नहीं नकारते, उसके विश्वासों की अवहलेना नहीं करते, उसकी आस्थाओं पर कुठाराघात नहीं करते, बल्कि बताते हैं कि उनकी चेतना पर स्मृति रूप में उनका भी प्रभाव है। कहा जाता है कि समय के साथ–साथ मूल्य और विश्वास परिवर्तत होते हैं, मनुष्य और समाज का नुकसान करने वाली रूढ़ियाँ छोड़ दी जाती हैं, और अच्छी परंपराएँ विकसित होती हैं। शास्त्राों में कहा गया है कि हर चमकने वाली चीज सोना नहीं है, पुराणों में वखणत प्रत्येक कथा अनुकरणीय नहीं है। अंग्रेजी में कहावत है ''ओल्ड इज गोल्ड', लेकिन हर पुरानी चीज सोना नहीं होती। अपने विवेक से अच्छे मूल्यों को स्वीकार कर बुरी चीजों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। यह बात ठीक नहीं है कि प्रत्येक पुराना अच्छा है और प्रत्येक नया बुरा। सर्वस्वीकारवाद या सर्वनकारवाद दोनों ही चीजें ठीक नहीं हैं। आशय यह है कि वर्णवाद और छुआछूत जैसी चीजें भारतीय समाज के लिए, उसकी एकता और अखंडता के लिए ठीक नहीं हैं।

बावजूद इसके, यह बात तकलीफदेह है कि दलित होने के कारण, चर्मकार नामक तथाकथित अछूत जाति का होने के कारण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दाखिला लेने के बाद अपने रहने के लिए एक छोटे से ठिकाने के लिए उन्हें अपमानजनक स्थितियों का सामना करना पड़ा। बनारस में उनकी सहायता तपसीराम तथा मुन्नीलाल नामक दो विद्यार्थियों ने की, जो उनसे पूर्वपरिचित थे और उन्हीं की जाति के थे। आखथक तंगी भी उनके लिए बड़ी समस्या थी। अस्पृश्यता की समस्या तो थी ही। मणिकखणका में डॉ. तुलसीराम ने इस बात का उल्लेख किया है कि बी.एच.यू. में दाखिला लेने के लिए उन्हें आजगमढ़ से बंगाल तक और बंगाल से बनारस तक कितना संघर्ष करना पड़ा, दर–दर की ठोकर खानी पड़ी, भूखे बिलल्ला पिफरना पड़ा। एक बार तो ऐसा हुआ कि लगातार 9 दिनों तक उन्होंने एक दाना भी नहीं खाया। जाति के कारण हर जगह से हड़काय गये, बार–बार डेरा बदलना पड़ा। एक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है ''तपसीराम की सहायता से मुझे बी.एच.यू. में दाखिला तो मिल गया, किन्तु असली संघर्ष आगे था। यद्यपि तपसीराम हॉस्टल में रहते थे, वे मेरे चलते हॉस्टल छोड़कर शहर में किराए के कमरे में मेरे साथ रहने लगे। इसके पीछे विचार यह था कि उन दिनों पाँच रुपये में एक कमरा किराए पर मिल जाता था, जिसमें दो लोग आसानी से रह लेते थे और लोहे की बनी सिकड़ी यानी चूल्हे में लकड़ी का कोयला जलाकर खाना पका लिया जाता था, जो हॉस्टल के खर्चे की आधी कीमत पर संभव हो जाता था। उन दिनों राशन बहुत सस्ता होता था। नया चावल एक रुपए में दो–दो तीन–तीन किलो मिल जाता था। आटा भी एक रुपये का दो किलो था। अरहर की दाल एक रुपये किलो और सरसों का तेल दो रुपये किलो मिल जाता था। कुल मिलाकर बीस–पच्चीस रुपये में महीने भर का खाने का काम चल जाता था। इन्हीं विचारों के साथ तपसीराम के साथ मुन्नीलाल ने भी मेरे साथ रहने के लिए गौरीगंज में ही एक अन्य मकान में एक बड़ा कमरा दस रुपये मासिक किराए पर लिया। उन दिनों दलितों को गैरदलित लोग किराए पर बनारस में मकान नहीं देते थे। अतः जो भी दलित किराए का कमरा लेते थे, वे अपनी जाति छिपा लेते थे। गौरीगंज में जो कमरा हमें मिला, उसे मुन्नीलाल ने तय किया था। मकान मालकिन थी राजवंती चाची, जो जाति से तेली थी, किन्तु भेदभाव में उसके सामने कट्टर ब्राह्मण भी कहीं नहीं ठहरते थे। राजवंती चाची ने हमलोगों की जाति शुरू में ही पूछ ली थी। मुन्नीलाल ने उसे बताया था कि वे स्वयं कायस्थ हैं और मेरे बारे में कहा कि मैं उत्तरकाशी का तुलसीराम शर्मा यानी ब्राह्मण हूँ। हम दोनों उस कमरे में रहने लगे। तपसीराम एक महीने बाद आने वाले थे। राजवंती चाची मांस मछली आदि पकाने पर भी पाबंदी लगा चुकी थी। अभी महीना भर बीता नहीं था कि एक दिन मेरे एक नये सहपाठी मिर्जापुर निवासी रामजनम जो दलित ही थे, हमलोगों से मिलने उस मकान में आए। हम लोग मकान पर नहीं थे। राजवंती चाची ने उनकी जाति पूछ ली। रामजनम ने ईमानदारी से बता दिया कि वे चमार हैं। पिफर चाची ने मुन्नीलाल और मेरी जाति बताने के लिए उनसे कहा। उन्होंने पिफर एक बार ईमानदारी से काम लिया। परिणामस्वरूप जब हम दोनों रात के करीब नौ बजे उस मकान पर लौटे तो चाची दरवाजे पर ही बैठी हमारा रास्ता देख रही थी। वहाँ वह जिस मुद्रा में बैठी थी, उसे देखते ही हमें आभास हो गया था कि आज कुछ गड़बड़ जरूर है।

चाची हमें देखते ही उबल पड़ी और कहने लगी कि चौखट के अंदर घुसना नहीं। चमार होकर हमारे घर में दाग लगा दिया, वह भी झूठ बोल कर। चाची मेरे चेचकदार चेहरे पर निशाना साधते हुए कहने लगी : ''ए के त हम पहिले दिनवा देखतै समझि गइलों कि ई जरूर चमार होई।'' चाची हमें भाग जाने के लिए कहने लगी। उसकी गालियाँ बहुत भद्दी थीं। उसने बड़ी मुश्किल से हमें उस कमरे से अपना सामान लेने दिया था। सामान के नाम पर दो अल्मुनियम की पतीली, दो प्लेट और सिकड़ी वाला चूल्हा था।

ASVP PIF-9.805 /ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.-II, Issues-36, YEAR-April-June. 2025

एक किलो लकड़ी का कोयला भी था। ये सारा सामान घर से लेकर भागे बक्से में रखकर मैं और मुन्नीलाल उस रात गौरीगंज के सामने वाली सड़क के किनारे बक्सा रखकर उस पर बैठे रहे और सोचते रहे कि रात में कहाँ जाएँ। मुन्नीलाल के एक सहपाठी भदैनी स्थित 'वीर आश्रम' नामक एक सरकारी दलित छात्राावास में रहते थे। गौरीगंज से वह जगह एक किलोमीटर से भी कम दूरी पर थी। हमलोग बक्सा लिये करीब साढ़े दस बजे रात को वीर आश्रम पहुँचे। हम उस रात बिना खाए पीए ही वीर आश्रम में सो गए। मैं रात में बार–बार रामचरितम मानस के बालकांड में तुलसीदास द्वारा लिखी उस चौपाई को याद करता रहा, जो इस प्रकार है

जद्यपि जग दारुण दुख नाना। सबते कठिन जाति अवमाना।।''[7]

डॉ. तुलसीराम की पहचान हिन्दी वैचारिकी और साहित्य के संसार में एक अम्बेडकरवादी मार्क्सवादी के रूप में है। अपनी लंबी विचार–यात्राा और वैचारिक संघर्षों के उपरान्त उनकी विचारधारा का विकास हुआ था। यह विचारधरा किताबी नहीं, जिन्दगी से उत्पन्न है। यह विचार–जन्य न होकर प्रायः अनुभवजन्य है। आज के दलित साहित्यकारों की यह सीमा है कि वे मार्क्सवाद का विरोध करते हैं और मार्क्सवादियों की सीमा है कि वे दलित प्रश्नों की उपेक्षा करते हैं। हम जानते हैं कि मार्क्सवादी दर्शन के केन्द्र में 'वर्ग' का प्रश्न है, जबकि अम्बेडकरवाद के केन्द्र में 'वर्ण' का। भारतीय संदर्भ में मार्क्सवाद तभी सपफल हो सकता है, जब वह अम्बेडकरवाद और गांधेवाद के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करे। दूसरे दलित लेखकों से एक कदम आगे जाकर डॉ. तुलसीराम ने अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद दोनों से अपनी दृष्टि को समृद्ध किया। यह उनकी दलित चेतना की खास विशेषता है और यही कारण है कि उनका लेखन दलित साहित्य में उल्लेखनीय उपलब्धि के रूप में हमारे सामने है।

सपष्ट है कि 'मणिकर्णिका' में डॉ. तुलसीराम के 'मुर्दहिया' के बाद के जीवन–संघर्ष और वैचारिक जीवन–यात्रा का वर्णन है। इसमें लेखक ने अपने जीवनानुभवों का वर्णन करते हुए उस खास समय को भी विश्लेषित किया है, जिसके भीतर अनेक प्रवृत्तियों का सघन संघर्ष चल रहा था। 'मणिकर्णिका' डॉ. तुलसीराम के जीवन–संघर्ष की ऐसी महागाथा है जिसमें भारतीय समाज की अनेक विद्रूपताएँ स्वतः उद्घाटित होती जाती हैं। उन्होंने छुआछूत जैसी कुप्रथा का उल्लेख ही नहीं किया है, भारत की उस भाषा–संस्कृति की ओर भी संकेत किया है, जो वर्णवादी भेद–भाव पर आधरित है।

'मणिकर्णिका' ने प्रकाशित होते ही हिन्दी साहित्य और समाज के जीवन में हलचल मचा दी तथा गंभीरता के साथ कुछ अनिवार्य प्रश्न खड़े किये। गांव से निकलकर लेखक जब बनारस आता है तो उसे कैसी दुस्सह, निर्दयी और दारुण परिस्थितियों से सामना करना पड़ता है, उनका अत्यंत सहज उल्लेख, गहरे आलोचकीय विवेक और धैर्य के साथ इस पुस्तक में हुआ है।

डॉ. तुलसीराम की विशेषता है कि वे दूसरे दलित लेखकों की तरह पूरी हिन्दू परम्परा को नहीं नकारते, उसके विश्वासों की अवहेलना नहीं करते, उसकी आस्थाओं पर कुठाराघात नहीं करते, बल्कि बताते हैं कि उनकी चेतना पर स्मृति रूप में उनका भी प्रभाव है। कहा जाता है कि समय के साथ–साथ मूल्य और विश्वास परिवर्तित होते हैं, मनुष्य और समाज का नुकसान करने वाली रूढ़ियाँ छोड़ दी जाती हैं, और अच्छी परंपराएँ विकसित होती हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि हर चमकने वाली चीज सोना नहीं है, पुराणों में वखणत प्रत्येक कथा अनुकरणीय नहीं है। अंग्रेजी में कहावत है 'ओल्ड इज गोल्ड', लेकिन हर पुरानी चीज सोना नहीं होती। अपने विवेक से अच्छे मूल्यों को स्वीकार कर बुरी चीजों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। यह बात ठीक नहीं है कि प्रत्येक पुराना अच्छा है और प्रत्येक नया बुरा। सर्वस्वीकारवाद या सर्वनकारवाद दोनों ही चीजें ठीक नहीं हैं। आशय यह है कि वर्णवाद और छुआछूत जैसी चीजें भारतीय समाज के लिए, उसकी एकता और अखंडता के लिए ठीक नहीं हैं। उन्हें अवश्य ही छोड़ देना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दू परंपरा को ही पूर्णतः छोड़ दिया जाए। हिन्दू ध्र्म ने पूरी दुनिया को अनेक महान आदर्श दिए हैं, दर्शन के क्षेत्रा में उसकी उपलब्ध्यिाँ अत्यंत श्रेष्ठ हैं, ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्रा में उसका योगदान नितांत अनुकरणीय है और धर्म के मानवकेन्द्रित मूल्यों के प्रसार में उसके द्वारा किये गये प्रयास अतुलनीय हैं। यही कारण है कि डॉ. तुलसीराम अनेक हिन्दू मान्यताओं की आलोचना तो करते हैं पर पूरी हिन्दू परंपरा का निषेध नहीं करते।

निष्कर्ष– डॉ. तुलसीराम की पहचान हिन्दी वैचारिकी और साहित्य के संसार में एक अम्बेडकरवादी मार्क्सवादी के रूप में है। अपनी लंबी विचार–यात्रा और वैचारिक संघर्षों के उपरान्त उनकी विचारधारा का विकास हुआ था। यह विचारधरा किताबी नहीं, जिन्दगी से उत्पन्न है। यह विचार–जन्य न होकर प्रायः अनुभवजन्य है। आज के दलित साहित्यकारों की यह सीमा है कि वे मार्क्सवाद का विरोध करते हैं और मार्क्सवादियों की सीमा है कि वे दलित प्रश्नों की उपेक्षा करते हैं। हम जानते हैं कि मार्क्सवादी दर्शन के केन्द्र में 'वर्ग' का प्रश्न है, जबकि अम्बेडकरवाद के केन्द्र में 'वर्ण' का। भारतीय संदर्भ में मार्क्सवाद तभी सफल हो सकता है, जब वह अम्बेडकरवाद और गांधीवाद के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करे। दूसरे दलित लेखकों से एक कदम आगे जाकर डॉ. तुलसीराम ने अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद दोनों से अपनी दृष्टि को समृद्ध किया। यह उनकी दलित चेतना की खास विशेषता है और यही कारण है कि उनका लेखन दलित साहित्य में उल्लेखनीय उपलब्धि के रूप में हमारे सामने है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मणिकर्णिका, डॉ. तुलसीराम, प्रकाशक–राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2021, पृष्ठ–6
2. मणिकर्णिका, डॉ. तुलसीराम, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2014, पृष्ठ–10
3. वही, पृष्ठ–9–10
4. वही, पृष्ठ–14–15
5. वही, पृष्ठ–16
6. वही, पृष्ठ–28–29
7. वही, पृष्ठ–36–37

*****